

## शिक्षा में साझेदारी (?) का आशय...

वर्तमान शैक्षिक विमर्श में सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप या पीपीपी) प्रमुख, चर्चित और विवादित मुद्दा है। 15 अगस्त, 2007 को आजादी की वर्षगांठ पर लाल किले से प्रधानमंत्री के देश के नाम संबोधन के बाद यह मुद्दा वर्तमान शैक्षिक विमर्श के केन्द्र में आ गया है। इस संबोधन में पूरे देश में 6000 उच्च गुणवत्ता के नए स्कूलों की स्थापना की घोषणा की गई है। राज्य सरकारों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों को योजना आयोग इनमें से 2500 स्कूल ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक-निजी साझेदारी के मॉडल पर चलाने के निर्देश बिन्दु भेज चुका है। 13 सितम्बर, 2007 को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में योजना आयोग की शिक्षा पर एक विशेष बैठक बुलाई गई जिसमें शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के मॉडल को शिक्षा की समस्याओं से निजात की रणनीति के रूप में देखा गया। योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह आहलूवालिया की अध्यक्षता में 21 अप्रैल, 2008 को विभिन्न कॉरपोरेट घरानों के साथ हुई बैठक भी सार्वजनिक-निजी साझेदारी के मॉडल पर स्कूल संचालन की रणनीति बनाने पर केन्द्रित थी। इस बैठक में भी साझेदारी का स्पष्ट स्वरूप उभरकर नहीं आ सका। हालांकि इसके स्वरूप को लेकर अभी भ्रम की स्थिति बनी हुई है फिर भी इसे धरातल पर उतारने के पुरजोर प्रयास किए जा रहे हैं। राजस्थान में हाल ही में वाउचर प्रणाली के आधार पर सरकार ने चार हजार स्कूलों के संचालन की घोषणा की है।

इस बहस के दोनों सिरे खुले हैं और दोनों तरफ स्थिति नाजुक है। इस विवाद की जड़ें एक ओर सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने के राज्य के संवैधानिक दायित्व और शिक्षा की सामाजिक भूमिका के सवालों में निहित हैं तो दूसरी ओर शिक्षा के मौजूदा परिदृश्य और शिक्षा पर पड़ रहे समकालीन आर्थिक-राजनैतिक दबावों में अन्तर्निहित हैं।

शिक्षा के संवैधानिक दायित्व संवैधानिक मूल्यों से जुड़े हैं जो समतावादी और न्यायपूर्ण समाज की संकल्पना को समाहित किए हुए हैं। आजादी के बाद बना हमारा संविधान अनुच्छेद 45 में 14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान करता है। हमारा संविधान सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों से समाज में पिछड़े तबकों को विकास के समान अवसर उपलब्ध कराने के लिए अनुच्छेद 46 में आदिवासी, दलित और अनुसूचित जाति एवं जनजाति के बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने का प्रावधान करता है। इसी सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए 1993 के उन्नीकृष्णन निर्णय में संविधान के अनुच्छेद 45 को अनुच्छेद 21 'जीवन के अधिकार' के साथ मिलाकर देखने की बात की गई है। इन प्रावधानों की पृष्ठभूमि में जो सिद्धान्त काम कर रहे हैं वे शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन और भारतीय समाज की स्तरीकृत व्यवस्था को खत्म करने का जरिया मानते हैं। आजादी के बाद बने नीतिगत दस्तावेज इसके लिए संकल्पित दिखाई देते हैं। कोठारी कमीशन की रिपोर्ट में सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने में राज्य की भूमिका पर बहुत जोर दिया गया है। संभवतः इस कमीशन के सदस्य शिक्षा के अवसरों में असमानता से सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों को लेकर सचेत थे। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि, "स्कूलों और कॉलेजों के प्रतिमानों में भेद शैक्षिक असमानता के अत्यंत दुःसाध्य रूप उत्पन्न करते हैं" और साथ ही यह रिपोर्ट, "सामाजिक न्याय और लोकतंत्र के विकास के लिए शैक्षिक अवसरों की समानता के लिए इन समूहों (लड़कियों, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति) के लिए विशेष सामाजिक प्रयत्न करने की जरूरत" पर बल देती है (कोठारी कमीशन की रिपोर्ट, पृ. 198-199, 6.04, 6.06, vol-1)। आचार्य राममूर्ति समिति की रिपोर्ट में विकास के माध्यम के रूप में देखते हुए शिक्षा को 'सही मायने में मुक्तिदायी अनुभव' कहा गया है जिसमें शिक्षा को जाति, लिंग, क्षेत्र, धर्म, भाषा इत्यादि के पूर्वाग्रहों से 'मुक्ति की एक प्रक्रिया' माना गया। इन्हीं मंतव्यों की अभिव्यक्ति शुरुआती पंचवर्षीय योजनाओं के दस्तावेजों में भी देखी जा सकती है। प्रथम पंचवर्षीय योजना समुदाय के भौतिक संसाधनों के स्वामित्व, नियंत्रण और वितरण को आमजन के हित में करने की बात कर रही थी वहीं दूसरी पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में 'समाजवादी समाज की अवधारणा को मूर्त रूप देने' के विचार को रखा गया है। चौथी पंचवर्षीय योजना में विकास के फायदों को इस प्रकार नियोजित करने पर जोर दिया गया कि उनका समाज के आम आदमी और कमजोर तबकों तक पहुंचना सुनिश्चित हो। लेकिन इन सभी दस्तावेजों में दिए गए सुझावों, प्रावधानों और इनके अनुरूप व्यवहारिक धरातल पर हुए कार्यों में आशा-निराशा समान रूप से देखी जा सकती है। यह इस बहस का एक पक्ष है जो संवैधानिक दायित्वों के अनुरूप राज्य की

भूमिका, प्रावधानों और उनके क्रियान्वयन को दिशा देने वाले नीतिगत दस्तावेजों को आधार बनाकर संवैधानिक जिम्मेदारियों के तहत सामाजिक विकास और आम जन के विकास की राज्य से मांग कर रहा है। इसे शिक्षा का आदर्शवादी नजरिया भी कहा जा सकता है जो कि शिक्षा को सभी के विकास के समान अवसर दिलाने और सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की अहम भूमिका के सामाजिक दर्शन को अपना आधार बनाता है।

इस बहस का दूसरा पक्ष अपने शैक्षिक प्रावधानों की बुनियाद यथार्थ के कठोर धरातल और शिक्षा की वर्तमान स्थितियों की आलोचना पर खड़ी करता है। इस पक्ष का मानना है कि सरकारी स्कूलों की वर्तमान कार्य प्रणाली से किसी भी वर्ग को फायदा नहीं मिल पा रहा है। सरकारी स्कूलों का प्रदर्शन इन पर खर्च किए जा रहे सार्वजनिक धन की अपेक्षा में बहुत ही न्यून है। सरकारी स्कूलों की स्थिति पर पिछले वर्षों में बहुत से अध्ययन हुए हैं जो कि सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत का जिक्र करते हैं। इन अध्ययनों में प्रमुख रूप से बच्चों का सरकारी स्कूलों में घटता नामांकन, शिक्षकों की अनुपस्थिति, शिक्षा की गुणवत्ता का अभाव, बच्चों के उपलब्धि स्तर और पूरे तंत्र में जवाबदेही के अभाव के मुद्दे उठाए गए हैं। यह पक्ष शिक्षा के अवसरों पर जोर देता है, जिसे इसके पैरोकार शिक्षा के समान अवसर भी कहते हैं। शिक्षा प्रणाली की तमाम समस्याओं से निजात पाने का एक अचूक तरीका शिक्षा के निजीकरण एवं माता-पिता को स्कूल चयन की स्वतंत्रता के प्रस्ताव के माध्यम से करते हैं। अर्थात् इनके अनुसार हर माता-पिता के पास अपने बच्चों की शिक्षा के लिए बेहतर स्कूल चुन सकने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। और यह तभी संभव होगा जब अन्य क्षेत्रों की तर्ज पर शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतंत्र बाजार खड़ा होगा और इसके लिए निजी उद्यमियों के लिए शिक्षा के क्षेत्र में अपने पैर रखने और निवेश के रास्ते खुलेंगे। शिक्षा में सुधार के इनके तरीके बाजार की 'खुली प्रतिस्पर्धा' के नियम, शिक्षा से सरकारी नियंत्रण और एकाधिकार की समाप्ति से संचालित हैं। अभी हाल ही में इस विचारधारा के प्रबल समर्थक गुरचरण दास का दैनिक भास्कर में लेख छपा है जिसमें वे 'क्रीमर-मुरलीधरन रिपोर्ट' के हवाले से कहते हैं, "हमारे यहां चार में से एक शिक्षक उपस्थित नहीं रहता, चार उपस्थित शिक्षकों में से एक कक्षा में काम नहीं करता।" इस समस्या का समाधान वे वाउचर प्रणाली से निकालने की कोशिश करते हैं। "इन वाउचरों के लिए स्कूलों के बीच प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाएगी। हर स्कूल चाहेगा कि उसे ये वाउचर मिलें, क्योंकि उसकी आय का यही एकमात्र जरिया होगा, लेकिन इसके लिए उसे अपने यहां शिक्षा के स्तर को सुधारना पड़ेगा। चूंकि शिक्षकों का वेतन भी इन्हीं वाउचरों से प्राप्त राशि पर निर्भर करेगा, इसलिए उन्हें भी अध्यापन के प्रति गंभीर रहना पड़ेगा।" (दैनिक भास्कर, जयपुर संस्करण, 13 जुलाई, 2008)। यह हमारे कटु यथार्थ का ही आईना है हालांकि यह लेख यह सिद्ध करता दिखाई देता है कि स्कूल अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई हैं, व्यापक राजनैतिक, आर्थिक एवं शिक्षा व्यवस्था से उसका कोई लेना-देना नहीं है और अपनी परिणति के लिए अकेले ही जिम्मेदार हैं। दूसरी ओर यह शिक्षा की शहरी और कस्बाई स्थिति से ग्रसित दूर-दराज की गांव-ढाणियों की उस हकीकत को दरकिनार कर देता है जहां आज भी एक भी स्कूल नहीं है।

हमें लगता है कि शिक्षा की गुणवत्ता के समस्यात्मक सवाल दोनों ही व्यवस्थाओं-राजकीय और निजी-में समान रूप से विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक व्यवस्था को सही और दूसरी को गलत कहना आसान नहीं है। स्थितियां जटिलता की ओर संकेत करती हैं। इस स्थिति में सामान्य रूप से कुछ कहने पर सरलीकरण की तरफ खिसक जाने का खतरा है। इस बहस में जाने से पहले एक बार सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विचार को समझ लेना उचित होगा। सार्वजनिक-निजी साझेदारी पर योजना आयोग ने दो दस्तावेज तैयार किए हैं (इन दस्तावेजों के बाद भी योजना आयोग में इस पर विमर्श जारी है)। इनमें से एक आधारभूत क्षेत्र के बारे में है और दूसरा सामाजिक क्षेत्र के बारे में। इन दस्तावेजों में सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार, इसका इतिहास, स्वरूप और रणनीतियां वर्णित हैं। सामाजिक क्षेत्र में आरंभिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, महिला एवं बाल विकास, संस्कृति, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, ग्रामीण विकास आदि को शामिल किया गया है। हम पहले यह देखने की कोशिश करेंगे कि योजना आयोग द्वारा तैयार यह दस्तावेज सार्वजनिक-निजी साझेदारी के बारे में क्या कहता है और इसे प्रस्तावित करने के क्या तर्क देता है ?

वर्ष 2004 में प्रकाशित इस दस्तावेज के अध्याय दो में कहा गया है, "सार्वजनिक-निजी साझेदारी सरकारी कार्यक्रमों और योजनाओं को निजी क्षेत्र के सहयोग से क्रियान्वित करने का एक तरीका है।" योजना आयोग के सचिव प्राक्कथन में लिखते हैं, "सार्वजनिक-निजी साझेदारी निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यक्रमों और परियोजनाओं में कई तरह से हस्तक्षेप करने के अवसर प्रदान करती है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यक्रमों और परियोजनाओं के लिए वित्तीय मदद, योजना निर्माण, क्रियान्वयन और रख-रखाव शामिल है।" इसके माध्यम से सामाजिक क्षेत्र के कार्यक्रमों के लिए निजी क्षेत्र की वित्तीय मदद आकर्षित करने की अपेक्षा जताई गई है। सार्वजनिक से यहां स्पष्ट आशय सरकारी धन से संचालित सेवाओं और व्यवस्थाओं से है। निजी क्षेत्र में 'गैर सरकारी

एजेन्सीज जैसे कि कॉरपोरेट क्षेत्र, स्वयंसेवी संगठन, स्वयं सहायता समूह, साझेदार कम्पनी, व्यक्ति और समुदाय आधारित संगठनों को शामिल किया गया है। इस दस्तावेज में सार्वजनिक-निजी साझेदारी और निजीकरण के फर्क को संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है-

1. निजीकरण में सेवाएं देने और किसी खास सेवा के लिए वित्तीय संसाधन निजी क्षेत्र के होते हैं जबकि सार्वजनिक-निजी साझेदारी में सेवाएं देने की पूरी जिम्मेदारी सरकार की ही है।
2. निजी क्षेत्र में लागत और मुनाफे पर स्वामित्व के अधिकार निजी क्षेत्र के होते हैं जबकि सार्वजनिक-निजी साझेदारी में संपत्ति पर कानूनी अधिकार सार्वजनिक क्षेत्र का बना रहेगा।
3. निजीकरण में सेवा की प्रकृति और क्षेत्र निजी सेवा प्रदाता द्वारा निर्धारित किया जाता है जबकि सार्वजनिक-निजी साझेदारी में सेवा का स्वरूप और क्षेत्र दोनों घटकों के बीच अनुबंध आधारित होंगे।
4. निजीकरण में जोखिम और लाभ निजी क्षेत्र के व्यवसाय का अभिन्न हिस्सा होते हैं जबकि सार्वजनिक-निजी साझेदारी में जोखिम और लाभ सरकार और निजी क्षेत्र के साझे होंगे।

इस दस्तावेज में साझेदारी के कुछ संभावित फायदे इस प्रकार बताए गए हैं कि यह किफायती होगी, ज्यादा उत्पादक होगी, अनुबंध में पुरस्कार और जुर्माने की व्यवस्था से सेवाएं शीघ्र उपलब्ध होंगी, सेवाएं स्पष्ट रूप से उपभोक्ता केन्द्रित होंगी, समाज सेवा के कार्यों (मानसिक रूप से अस्वस्थ और नियोग्य बच्चों आदि संबंधी) को बढ़ावा मिलेगा, नवाचार संबंधी निर्णय विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में लचीलेपन के साथ लिए जा सकेंगे।

साझेदारी के इतिहास पर बात करते हुए इसका उत्स और सफलतापूर्वक संचालन अमेरिका में बताया गया है। भारत में इस साझेदारी के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई के लिए नहर बनाने के काम में 'सामुदायिक सहयोग' का हवाला दिया गया है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में कपार्ट (CAPART) की स्थापना से ग्रामीण विकास की योजनाओं को अलाभकारी संस्थाओं की मदद से क्रियान्वित करने और नवीं पंचवर्षीय योजना में सामाजिक विकास के कार्यक्रमों में गैर-सरकारी संस्थानों और स्वयं सेवी संगठनों की भूमिका को विशेष रूप से स्वीकारने की बात कही गई है। कई दशकों से मानव संसाधन विकास मंत्रालय की 'ग्रांट इन एड' की सहायता से शैक्षिक संस्थानों को चलाने का भी उदाहरण दिया गया है।

यह दस्तावेज इस साझेदारी के स्वरूप के चार संभव मॉडल बताता है-1. सरकारी वित्तीय मदद से सेवा प्रदान करने और प्रबंधन की निजी व्यवस्था हो सकती है। 2. सरकारी और निजी वित्तीय मदद से सेवा प्रदान करने और प्रबंधन की निजी व्यवस्था हो सकती है। 3. सरकारी और निजी वित्तीय मदद से सेवा प्रदान करना और प्रबंधन दोनों क्षेत्रों का संयुक्त हो सकता है। 4. निजी वित्तीय सहयोग से निजी सेवा प्रदान करना और प्रबंधन हो सकता है।

पहला मॉडल सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिए सार्वजनिक धन को पूरी तरह से निजी क्षेत्र को सौंपने का प्रस्ताव देता है तो दूसरा मॉडल संयुक्त वित्तीय मदद से सेवा प्रदान करने और प्रबंधन की व्यवस्था निजी क्षेत्र को देता है। अर्थात् ये दोनों मॉडल सेवा प्रदान करने में निहित संभव लाभ को निजी क्षेत्र को देने का प्रावधान करते दिखाई देते हैं। तीसरा मॉडल पुनः एक ऐसी जटिल व्यवस्था को प्रस्तावित करता है जिसके लिए सरकारी तंत्र की आलोचना की जाती रही है। चौथा मॉडल वास्तव में साझेदारी का मॉडल ही नहीं है और यह पूर्णतः निजी क्षेत्र के लिए उस स्वतंत्रता का प्रस्ताव है जो कि आजादी के पहले से उनके पास है।

यह दस्तावेज कहीं भी इस बात की पड़ताल नहीं करता कि आखिर सार्वजनिक-निजी साझेदारी की जरूरत क्यों पड़ी ? सार्वजनिक-निजी साझेदारी के बारे में कहा गया है कि यह 'सेवा प्रदान करने की सक्षमता और प्रभाविता को बढ़ाएगी'। निश्चित रूप से इस दस्तावेज में अनकहे ही सार्वजनिक व्यवस्थाओं को चलाने में राज्य की असफलता की स्वीकारोक्ति है। इस दस्तावेज में साझेदारों की जो सूची प्रस्तुत की गई है वह भी भ्रांति पैदा करती है। निजी क्षेत्र को जिस तरह परिभाषित किया गया है उसमें एक तरफ निजी और कॉरपोरेट क्षेत्र शामिल है तो दूसरी तरफ स्वयं सेवी संगठन, स्वयं सहायता समूह और समुदाय आधारित संगठन हैं। क्या दोनों तरह के संगठनों की प्रकृति में भिन्नता के बावजूद इन्हें एक ही वर्ग में रखना उचित है ? इस बहस में संस्थाओं की प्रकृति के फर्क को समझना महत्वपूर्ण है। एक सवाल यही है कि क्या किसी स्वयं सेवी संगठन द्वारा चलाए जा रहे स्कूल और मुनाफा कमाने के लिए चलाए जा रहे स्कूल को एक ही धरातल पर रखना उचित होगा ? निजी की यह तकनीकी परिभाषा उचित

हो सकती है लेकिन निजी और गैर-सरकारी के बीच भी फर्क है। गैर-सरकारी संगठन में राजकीय संस्थानों से इतर सभी संगठन और संस्थान शामिल हो जाते हैं, निजी भी उसका एक हिस्सा होता है। निजी का प्रयोग मूलतः मुनाफा कमाने से संबद्ध संस्थानों के लिए होता है लेकिन सभी गैर-सरकारी संस्थान निजी नहीं होते और मुनाफे के लिए भी काम नहीं करते। यह श्रेणीकरण का एक दोष है जो कि भ्रांतिमूलक है। एक अन्य भ्रांति इसके इतिहास के वर्णन से पैदा करने की कोशिश की गई है। अमेरिका या भारत के जितने भी उदाहरण दिए गए हैं उनमें सामुदायिक सहयोग या गैर-लाभकारी संस्थाओं के सहयोग से परियोजनाओं की क्रियान्विति का जिक्र किया गया है लेकिन योजना आयोग इस विचार की वैधता के लिए इतिहास से जो उदाहरण देता है उनमें गैर-लाभकारी और निजी को एक-दूसरे के पर्यायवाची के रूप में इस्तेमाल करता है। सामुदायिक सहयोग और निजी क्षेत्र के प्रयासों की प्रकृति में समझ और अवधारणा के स्तर पर फर्क है। साथ ही यह सूची और साझेदारी का प्रस्ताव इस आम धारणा को भी पुष्ट करता दिखाई देता है कि शिक्षा एक ऐसा अनुशासन है जिसमें अनुभव, समझ और विशेषज्ञता की जरूरत नहीं है।

वर्तमान साझेदारी के विचार को समझने के लिए इसे शिक्षा में अभी तक चलते आ रहे निजी प्रयासों से अलग करके देखे जाने की जरूरत है। आधुनिक भारतीय शिक्षा के इतिहास में और आजादी के बाद भी निजी उद्यमियों के स्कूलों की समाज में उपस्थिति रही है। आज के निजी स्कूलों और उस समय के स्कूलों में फर्क यह किया जा सकता है कि वे स्कूल मूलतः मुनाफे के लिए संचालित नहीं होते थे। साझेदारी की इस बहस में अभी सीधे तौर पर मुनाफे के लिए स्कूल चलाने और सरकारी नियंत्रण ढीला या समाप्त करने के तर्क दिए जा रहे हैं। निजी उद्यमियों द्वारा अपने स्कूल खोलने पर सरकार की कभी भी पाबंदी नहीं रही और यह भी सही है कि निजी स्कूलों ने बड़ी मात्रा में शिक्षा के वितरण को सुनिश्चित किया है। शिक्षा में निजी प्रयासों से इसे अलग करने की जरूरत इसलिए भी है क्योंकि हमारा संविधान सामाजिक विकास और सभी को विकास के समान अवसर देने का दायित्व राज्य को सौंपता है और यह आशा की जाती है कि प्रत्येक सरकार संविधान के निर्देशन में इन्हें पूरा करेगी। लेकिन इस साझेदारी में राज्य निजी क्षेत्र को विकास के कार्यों में साझेदारी का प्रस्ताव दे रहा है या आमंत्रित कर रहा है। जबकि इससे पहले यदि कोई निजी संस्थान विकास के कार्यों में योगदान देना चाहता था तो संभवतः सरकार कुछ रियायतों के साथ उसे काम करने की छूट देती रही है। जैसे कि बहुत से निजी स्कूलों को जमीन या निर्माण आदि के कार्यों में कर से छूट दी गई। लेकिन इससे पूर्व सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में पहल करके निजी क्षेत्र को आमंत्रित नहीं किया। इसके विपरीत कोठारी कमीशन की रिपोर्ट में निजी संस्थानों पर बढ़ती निर्भरता के प्रति चिन्ता जताते हुए कहा गया कि शिक्षा में 'निजी उद्यम के कुछ रूपों ने शिक्षा पर सकारात्मक के बजाए नकारात्मक योगदान ही किया है' और 'आधुनिक समाज के लिए बढ़ती शिक्षा की जरूरतों को केवल राज्य ही पूरी कर सकता है और निजी उद्यम पर अतिरिक्त निर्भरता दिखाना बहुत बड़ी गड़बड़ी होगी।' (कोठारी कमीशन की रिपोर्ट, पृ. 819, 18.11, Vol. 4) इससे उलट इस साझेदारी में निजी क्षेत्र के उद्यमियों या उनके द्वारा स्थापित फाउण्डेशन्स को प्रमुखता के साथ आमंत्रित किया जा रहा है।

साझेदारी के वर्तमान विमर्श में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि शिक्षा के निजीकरण की पुरजोर पैरवी नवें दशक से शुरू हुई जो कि आज अपने चरम पर है। यदि हम इसे संवैधानिक और नीतिगत दस्तावेजों के संदर्भ में देखें तो यह राज्य की भूमिका में प्रतिमानीय बदलाव को दर्शाता है और इसकी एक स्पष्ट झलक पंचवर्षीय योजनाओं के दस्तावेजों में भी देखी जा सकती है। पंचवर्षीय योजनाओं का जिक्र यहां बार-बार इसलिए किया जा रहा है क्योंकि योजना आयोग ने ही ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के प्रति प्रतिबद्धता दर्शायी है। जहां चौथी पंचवर्षीय योजना में कहा जा रहा था कि 'जो काम किए जाने हैं उसकी तुलना में धन, प्रशिक्षित कार्मिकों, प्रशासनिक और प्रबंधन कौशलों का अभाव है और इनको जुटाते समय किन्हीं निजी व्यक्तियों या समूहों के बजाए देशहित को तरजीह देनी होगी'। वहीं आठवीं पंचवर्षीय योजना का दस्तावेज वैश्विक परिदृश्य में हो रहे बदलावों के संदर्भ में निजीकरण के प्रस्ताव को स्वीकार करता नजर आता है। इस दस्तावेज में कहा गया है कि, 'आज के समय में इस बात पर सहमति सी बनती जा रही है कि अनेक क्षेत्रों में विकास को सुनिश्चित करने के लिए गैर जरूरी सरकारी नियंत्रण और राज्य के हस्तक्षेप से उन क्षेत्रों को मुक्त रखा जाए।' हालांकि इसके बाद भी यहां बाजार को खुली छूट देने में द्वन्द्व साफ दिखाई देता है। जिसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है, 'साथ ही हमारा मानना है कि विकास को पूरी तरह से बाजार तंत्र के भरोसे भी नहीं छोड़ा जा सकता।' ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के निजीकरण का खुलकर समर्थन और वाउचर प्रणाली लागू करने की पैरवी की गई है। आज के समय में राजनीतिज्ञ और सरकार के सर्वोच्च पदों पर विराजमान पदाधिकारी सार्वजनिक-निजी साझेदारी का खुलकर समर्थन करते सुने जा सकते हैं। जनवरी, 2008 में प्रवासी भारतीय दिवस के अवसर पर 'ज्ञान आयोग' के अध्यक्ष सेम पित्रोदा

अतिरिक्त व्यग्रता के साथ सार्वजनिक-निजी साझेदारी का आह्वान करते हुए कहते हैं, “हम स्वीकार करते हैं कि सरकार शिक्षा की चुनौतियों को पूरा करने में समर्थ नहीं है। हमें पीपीपी की जरूरत है... हमारे साथ काम करो। हमारी मदद करो। हमें विशेषज्ञता की जरूरत है।”

संवैधानिक दायित्वों के बावजूद राज्य की भूमिका में हुए इस प्रतिमानीय बदलाव के कारणों और इसके परिणामों पर विचार करने की भी आवश्यकता है जिनके चलते वह इस तरह की साझेदारी की तरफ अग्रसर हो रहा है। इसका एक आयाम नवें दशक में शुरू हुई नव उदारवादी आर्थिक प्रक्रियाएं हैं। दूसरा आयाम राज्य सत्ता के चरित्र के बदलाव है और तीसरा आयाम मध्यम वर्ग की भूमिका से जुड़ता है। यह जानना भी जरूरी होगा कि वह कौनसा वर्ग है जो शिक्षा में सार्वजनिक-निजी साझेदारी चाहता है ?

शिक्षा विमर्श के सार्वजनिक-निजी साझेदारी पर केन्द्रित इस विशेषांक में शामिल लेख इस साझेदारी से जुड़े विभिन्न आयामों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। यहां सभी मुद्दों पर चर्चा करना संभव नहीं है इसलिए हम इस बहस में उठे प्रमुख मुद्दों पर लेखकों के विचारों पर दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे। इस अंक के सभी लेखकों का एक स्वर में मानना है कि राज्य सभी को बेहतर शिक्षा और सुविधाएं उपलब्ध नहीं करवा पाया है। इसके कारणों के रूप में पार्थ जे. शाह शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी एकाधिकार को समस्या मानते हुए कहते हैं कि, ‘किसी भी क्षेत्र में एकाधिकार उपभोक्ता के हित में नहीं होता’। श्रीधर राजगोपालन इसे लगभग मानवीय प्रकृति के साथ जोड़कर देखते हैं। उनका मानना है कि लाभ के बगैर चलने वाली प्रक्रियाओं में बेहतर काम की संभावना कम होती है क्योंकि इंसान ‘लाभ की इच्छा से आवेश, विशेषज्ञता और नवाचार’ की ओर प्रेरित होता है। राज्य की इस असफलता को योगेन्द्र राज्य के अलोकतांत्रिक चरित्र से जोड़कर देखते हैं। उनका मानना है कि ‘राज्य प्रभुत्वशाली वर्ग के शासन पर कब्जा बनाए रखने का उपकरण रहा है।’ वे कहते हैं कि ‘इस तरह के शासन के हाथ में, बिना उसका चरित्र बदले, जन हित के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी देते हैं तो निश्चित रूप से वे असफल तो होंगे ही’। क्योंकि ‘उसमें जनता के प्रति जवाबदेही और संवेदनशीलता का तत्व नहीं है’। डॉ. अनिल सद्गोपाल इसके कारणों की व्यापक पड़ताल राजनैतिक अर्थशास्त्र में करते हुए बताते हैं कि किस तरह पूंजीपति वर्ग अपने मुनाफे के लिए राज्य को अपना हिस्सा बना लेता है और दोनों एकाकार हो जाते हैं जिसके चलते राज्य वास्तव में जन हित में कार्य करने के बजाए ‘पूंजीवादी समाज का एजेंट’ बन जाता है। अपने कथन की पुष्टि में वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनुभवात्मक तथ्य प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि किस प्रकार विकास के नाम पर पूंजीपति वर्ग को फायदा पहुंचाने के लिए राज्य आम जनता के हितों की अनदेखी करते हुए न सिर्फ सार्वजनिक धन से उन्हें सुविधाएं उपलब्ध करवाता रहा है बल्कि पूंजीपति वर्ग को फायदा पहुंचाने की नीतियां भी बनाता रहा है। डॉ. राजीव गुप्ता इसके कारण 1992 के बाद शुरू हुई वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की प्रक्रियाओं में देखते हैं।

राजकीय शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त चुनौतियों का सामना करने के लिए एवं शैक्षिक स्थितियों में सुधार के लिए जो रणनीतियां प्रस्तावित की गई हैं उनमें पार्थ बाजार के दर्शन पर आधारित स्कूलों के बीच ‘खुली प्रतिस्पर्धा’ की पैरवी करते हैं। इसके लिए वे वाउचर प्रणाली का प्रस्ताव रखते हुए कहते हैं कि इससे बच्चों के माता-पिताओं को ‘स्कूल चयन’ की स्वतंत्रता प्राप्त होगी। उनका मानना है कि यदि माता-पिताओं के पास स्कूल चयन की स्वतंत्रता होगी तो स्कूलों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्धा से शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार होगा। पार्थ मानते हैं कि बाजारवादी दर्शन पर आधारित खुली प्रतिस्पर्धा से ही शिक्षा में समानता, गुणवत्ता और शैक्षिक उन्नयन के बेहतर विकल्प सामने आएंगे। श्रीधर भी इसके लिए मुनाफे के लिए स्कूल चलाने की छूट में यकीन करते हैं। एन. वेणु दोनों व्यवस्थाओं-सार्वजनिक और निजी शिक्षण संस्थाओं-के समानान्तर संचालन पर जोर देते हैं। उनका मानना है कि ‘अगर बेहतर सूचना व अधिक विकल्प हों तो नागरिक विवेकपूर्ण चयन कर सकते हैं।’ वे दूरसंचार और यातायात के उदाहरणों के माध्यम से कहते हैं कि, ‘जब उपभोक्ता के चयन और स्पर्धा का ताप महसूस होता है तो सरकारी क्षेत्र भी नतीजे देता है।’

स्कूल चयन की स्वतंत्रता से शिक्षा में सुधार के दावे, स्कूलों के बीच खुली प्रतिस्पर्धा और वाउचर प्रणाली इस अंक में विवादित मुद्दों के रूप में उभर कर आते हैं। वेणु शिक्षा में निजी क्षेत्र की उपस्थिति और प्रतिस्पर्धा से शैक्षिक स्थितियों में सुधार की संभावना के प्रति आशावान होने के बावजूद भी इस बात पर जोर देते हैं कि ‘सुव्यवस्थित रूप से पेचीदा वाउचर प्रणाली लागू करना, भारत की अधिकांश राज्य सरकारों की क्षमता के परे है’ और ‘यदि वाउचर प्रणाली को यहां सफल होना है तो इसे सरकारी शिक्षा व्यवस्था में गंभीर सुधार के बाद ही लागू किया जाना होगा। अगर इसका क्रियान्वयन कमजोर रहा तो ऐसी वाउचर प्रणाली भ्रष्टाचार को

और निजी लाभ की वृत्ति को पनपने के अवसर बढ़ाएगी।' प्रो. कृष्ण कुमार अपने लेख में वाउचर प्रणाली को 'लफ्फाजीदार रणनीतियां' कहते हैं। बाजार की तर्ज पर खुली प्रतिस्पर्धा के बारे में रोहित धनकर कहते हैं कि बाजार और व्यक्ति के बीच का संबंध सेवा प्रदाता और उपभोक्ता का होता है। वे इस संबंध की समस्याओं की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि शिक्षा में बाजार के प्रवेश को लेकर चिन्तन करने वाले शिक्षाविदों के लिए यह चुनौती रही है कि शिक्षा में उपभोक्ता किसे माना जाए ? रोहित धनकर बाजार की अधिकतम लाभ कमाने की मूल प्रकृति को कम लागत और अधिकतम मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति से जोड़कर विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि शिक्षा में मुख्य रूप से शिक्षक के वेतन और शिक्षक की क्षमतावर्धन पर लागत ज्यादा होती है। यदि स्कूल लाभ के लिए संचालित होंगे तो इसका असर शिक्षक की योग्यताओं और सेवा शर्तों पर पड़ेगा। वे इसका शिक्षा पर सकारात्मक के बजाए नकारात्मक प्रभाव देखते हैं। रोहित धनकर और राजाराम भादू, दोनों ही, बाजार की खुली प्रतिस्पर्धा और उसके माध्यम से गुणवत्ता के सुधार के दावों की पड़ताल मीडिया के उदारहण से करते हुए कहते हैं कि खुली प्रतिस्पर्धा ने मीडिया कार्यक्रमों में गुणवत्ता बढ़ाने के बजाए निरन्तर गिराया ही है। रोहित धनकर का मानना है कि यदि शिक्षाक्रम बाजार की जरूरतों से निर्धारित होगा तो वह बाजार की जरूरतों के अनुरूप ही क्षमताओं और कौशलों को विकसित करने वाला होगा। इसका परिणाम वे ऐसे अदूरदर्शी शिक्षाक्रम के रूप में देखते हैं जो कि शिक्षा के व्यापक सामाजिक आधारों, शिक्षा में चिन्तन की भूमिका और संवेदनात्मक पहलुओं से दूर ले जाएगा। योगेन्द्र अपने लेख में कहते हैं कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी या निजीकरण के प्रयास में शिक्षा में निहित मानवीय और सामाजिक तत्वों जैसे कि, सामाजिक न्याय, समता और जेण्डर आदि के मुद्दों; जिनकी शिक्षा में वैसे भी कम ही सराहना होती है, शिक्षा प्रक्रियाओं में पीछे चले जाएंगे। हृदयकांत दीवान अपने लेख में कहते हैं कि इंसान की बुनियादी आवश्यकताओं से जुड़े मुद्दों; शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन या मानवीय समता या स्वतंत्रता को किसी भी देश में निजीकरण की प्रक्रियाएं बराबरी की तरफ नहीं ले गई हैं।

वाउचर प्रणाली को जहां पार्थ शैक्षिक सुधारों के लिए जीवनदायी शक्ति के रूप में देखते हैं वहीं अनिल सद्गोपाल अपनी बातचीत में अनुभव और शोध आधारित तथ्यों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए चिली और कोलम्बिया जैसे लातिन अमेरिकी देशों में वाउचर प्रणाली के कटु अनुभवों को सामने रखते हैं। अपने विश्लेषण में वे बताते हैं कि वाउचर पद्धति के बारे में किए जा रहे दावे 'स्कूल चयन की स्वतंत्रता' और शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार जैसा कोई प्रभाव वहां की शिक्षा पर नहीं पड़ा है। वे कहते हैं कि, 'इससे गरीब बच्चों को स्कूल चुनने का हक नहीं मिल पाता है।' इसके बावजूद 'निजी स्कूल बच्चों का चयन करते हैं...यानी वाउचर प्रणाली निजी स्कूलों का अभिजात और मुनाफाखोर चरित्र नहीं बदल पाई है' और 'निजी स्कूलों ने पढ़ाई में कमजोर, विकलांग और शरारती बच्चों को भर्ती करने से इंकार कर दिया।' साथ ही वे ऐसे उदाहरण भी देते हैं जहां वाउचर की कीमत कम होने पर निजी विद्यालय बच्चे के माता-पिता से अतिरिक्त पैसा भी लेते हैं। वे हांगकांग, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया के उदाहरण से यह भी बताते हैं कि वहां की सरकारों ने वाउचर प्रणाली को अनुपयुक्त पाया और अपने यहां लागू करने से इंकार कर दिया।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी के भारत जैसे देश में पड़ने वाले असर पर भी मिश्रित विचार हैं। जहां पार्थ, श्रीधर और प्रो. जलालुद्दीन इसे शिक्षा में सुधार की उम्मीद की नजर से देखते हैं वहीं वेणु संशय के साथ कारगर रणनीति के तौर पर असरकारी होने की संभावना जताते हैं। योगेन्द्र इसे आम जनता को बाजार की परिधि में लाने का प्रयास और मूलतः निजीकरण का ही रास्ता बताते हैं। राजीव गुप्ता सार्वजनिक-निजी साझेदारी से पनपी शिक्षा को विभाजन पनपाने वाली मानते हैं। रोहित धनकर इसे पूर्णतः लाभ के लिए मुक्त करने की ओर एक कदम बताते हुए सरकारी धन को निजी उद्यमियों को मुहैया कराने की व्यूह रचना के तौर पर देखते हैं। हृदयकांत दीवान साझेदारी के बजाए अभी तक चली आ रही साझेदारियों को घटाकर एक खास तरह की साझेदारियों को पनपाने की दिशा में बढ़ना मानते हैं।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विचार ने शिक्षा में काम करना शुरू कर दिया है लेकिन फिर भी कुछ अहम सवाल हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है। ये सवाल समाज में शिक्षा की भूमिका, राज्य के संवैधानिक दायित्व और शिक्षा दर्शन एवं शिक्षाशास्त्र के गहन सवालों से जुड़े हैं। यह अंक शिक्षा में साझेदारी के विचार को विमर्श में लाने, प्रश्नांकित करने और साझेदारी के विमर्श से जुड़ी समस्याओं को पाठकों के समक्ष रखने का एक प्रयास है। हमारा विश्वास है कि लोकतंत्र में खुली बहस ही सही दिशा में जाने का रास्ता है।

दिशान्त